

○.....
 प्रस्तुत लेख कांचा इलैया की पुस्तक 'में हिन्दू क्यों नहीं हूँ' का अंश है। यह सम्पूर्ण पुस्तक ही हाशिए पर पड़ी आबादी, दलित बहुजन, के उन पहलुओं को उजागर करती है जो तथाकथित हिन्दू संस्कृति के विपरीत हैं। प्रस्तुत अंश में कहा गया है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था का चरित्र अभिजात्यवादी और ब्राह्मणवादी रहा है। पाठ्यपुस्तकों की भाषा, विषयवस्तु और नैतिकता एक बड़े वर्ग, दलित बहुजन, के जीवन से कटी हुई थी और इसे वे दलित चेतना को दबाने में षडयंत्र के रूप में देखते हैं जबकि ऐसा नहीं है कि दलित बहुजन की अपनी कोई संस्कृति नहीं है।

विद्यालयी शिक्षा

□ कांचा इलैया

विद्यालयी शिक्षा

दलितबहुजन इतिहास में पहली पीढ़ी ने जब स्लेट और पेंसिल देखी तो यह सब उसके लिए जंगल से विद्यालय में छलांग मारने जैसा था। वहां हमारे और हिन्दुओं के बीच में क्या समानता हो सकती थी ? वहां भी ब्राह्मण-बनिया बच्चों की स्थिति खास थी। उनके पास अच्छे कपड़े थे और उन्हें अच्छा भोजन मिलता था। भले ही सब बच्चे एक ही गांव में पैदा हुए थे मगर उन्होंने एक भिन्न संस्कृति के साथ स्कूलों में प्रवेश किया था। खाने की हमारी आदतें एक जैसी नहीं थीं। दलितबहुजनों के लिए अच्छे भोजन का मतलब था मांस और मछली। हमारे लिए यही स्वादिष्ट था और हमें यही भाता था। ब्राह्मण और बनिया बच्चों को मांस-मछली के बारे में बातचीत करने से ही उल्टी महसूस होने लगती थी। मडिगाओं और मुसलमानों के लिए 'बड़े का मांस' स्वादिष्ट था। हमारे लिए यह वर्जित था लेकिन हम ब्राह्मण और बनिया की तरह इस मांस से नफरत नहीं करते थे। ये अन्तर केवल व्यक्तियों की रुचियों के अन्तर नहीं थे बल्कि ये अन्तर हमारे पालन-पोषण के भी थे।

विद्यालय के अध्यापक का हमारे प्रति रवैया उसकी अपनी जातीय पृष्ठभूमि पर निर्भर करता था। अगर वह ब्राह्मण होता तो हम से घृणा करता। वह हमारे सामने ही हम से कहता कि कलियुग या बुरे समय का ही असर है कि उसे हमारे जैसे शूद्रों को पढ़ाने के लिए मजबूर किया जा रहा है। उनकी निगाह में हम में कुछ भी अच्छा नहीं था। 'बुद्धिमान' अध्यापक हमें 'शूदारी परिवारों' (खेत के हाथों वाले परिवार) से आने वाला मानता था। उसकी राय में

खेतों में काम करना एक गंदा और घृणित पेशा था। उसके अनुसार केवल विधर्मी लोग गंदे और कीचड़ भरे खेतों में काम करते हैं। आज हमको लगता है कि कीचड़ में काम करना हमारे लिए अच्छा था। हम सोचते हैं कि कीचड़ कामगार लोगों के भोजन और विचारों की जन्मभूमि है।

तब अध्यापक के मुताबिक महान कौन थे ? कोई और नहीं बल्कि ब्राह्मण, बनिया और ऊंची जाति के जमींदारों के परिवारों से आने वाले बच्चे। वही उसके लिए महान थे। वे खेती-बाड़ी का गंदा काम नहीं करते। उनके चेहरे साफ तरह से धुले होते हैं। उनके कपड़े साफ होते हैं। उनके बालों में तेल डला होता है और कंधी की हुई होती है। वे स्कूल में चप्पल पहन कर आते हैं। इधर जो लोग जानवरों को पालते-पोसते हैं, जो जानवरों की खालों से चप्पल बनाते हैं उनके पास पहनने के लिए चप्पल नहीं होती है। यही वजूहात थे कि हम उपेक्षित, भेदे और गंदे थे। सिर्फ अध्यापक ही नहीं बल्कि ऊंची जाति के स्कूली बच्चे भी दलितबहुजन बच्चों के बारे में ऐसा ही सोचते थे।

जैसे-जैसे हम बड़े होते गए, हम ऊपर की कक्षाओं में जाते रहे। हमें वहां ऐसी कहानियां सुनाई जाने लगीं जो हमने अपने परिवारों में कभी नहीं सुनी थीं। राम और कृष्ण की कहानियां, पुराणों की कविताएं और रामायण और महाभारत जैसे दो महाकाव्यों के नाम बारंबार दुहराए जाते। विद्यालय से लेकर महाविद्यालय तक की हमारी तेलुगु पाठ्यपुस्तकें ऐसी ही हिन्दू कहानियों से भरी पड़ी थी। ब्राह्मण-बनिया विद्यार्थियों के लिए यह उनके बचपन से सुनी

कहानियां थीं। सिर्फ कहानियों के खाके से नहीं बल्कि कहानियों के पात्रों से भी वे परिचित थे, क्योंकि वे उनकी पूजा करते थे। जब भी वे अपने माता-पिता के साथ मंदिरों में जाते तो वे वहां इन देवताओं के रूप देखते थे। लड़कों के नाम इन देवताओं के नामों पर होते और लड़कियों के नाम देवियों के नाम पर। ये सब नाम मुझे खासतौर पर बहुत अलग लगते थे। कई सारे नाम तो मेरे गांव के लिए ही अजनबी थे। हमारे लिए कालिदास का नाम भी उतना ही अजनबी था जितना कि शेक्सपीयर का। फर्क केवल इतना था कि एक नाम तेलुगु पाठ्यपुस्तकों में आता था और दूसरा अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकों में। ब्राह्मण-बनिया विद्यार्थियों के लिए शायद स्थिति दूसरी थी। इन पाठ्यपुस्तकों की भाषा हमारे समुदाय में बोली जाने वाली भाषा से भिन्न थी। आधारभूत शब्द भी भिन्न थे। पाठ्यपुस्तकों की तेलुगु 'ब्राह्मण तेलुगु' थी। हम उत्पादन पर आधारित बोलचाल की तेलुगु के आदी थे। भाषा और उसकी अंतरवस्तु दोनों के संदर्भ में तेलुगु पाठ्यपुस्तकों से हमारा अलगाव कमोबेश उतना ही था जितना की अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकों से। यह केवल बोली का फर्क नहीं था। बल्कि यह फर्क खुद भाषा में भी निहित था।

आज की तारीख में मुझे अभी तक कोई ऐसी तेलुगु पाठ्यपुस्तक देखने को नहीं मिली है जो उत्पादन आधारित बोलचाल की भाषा में लिखी गई हो। पोचम्मा, पोटाराजु, कट्टामाईसम्मा पर कोई अध्याय मुझे देखने को नहीं मिला है। ऐसा नहीं है कि इन देवी देवताओं से जुड़ी कोई कहानी नहीं है। अगर इनका कोई कथावृत्त नहीं होता तो यह हजारों सालों तक लोगों के बीच बचे न रहते। किसी दलितबहुजन कथावाचक से इन कहानियों को सुनते वक्त हम इन पर मंत्रमुग्ध होकर रह जाते थे। अधिकतर लेखक ब्राह्मण ही होते हैं। इसलिए किसी लेखक ने इन कथाओं को लिखने के बारे में नहीं सोचा। अगर ऐसा होता तो शायद ये कथाएं विद्यालयों और कॉलेजों की पाठ्यपुस्तकों में शामिल की जा सकती थीं। लेकिन इन लेखकों की राय में हमारे देवी-देवताओं के नाम इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं कि उनका उल्लेख किया जाए।

मुख्यधारा के किसी तेलुगु कवि ने कभी यह नहीं सोचा कि संस्कृति की बात करने के मानी इन देवी-देवताओं के बारे में बात करना भी है। किसी कवि ने यह नहीं सोचा कि कविता वही है जो लोग रोजाना एक-दूसरे से बात करते हैं, विचार-विमर्श करते हैं या विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। ऐसे भी कवि हुए हैं जो इन हिन्दू परिवारों में जन्मे जरूर, मगर बाद में कम्युनिस्ट, निरीश्वरवादी या विवेकवादी हो गए। इन कवियों ने भी अपनी रचना के विषय के रूप में हमारी रोजमर्रा की जिन्दगी को कभी नहीं उठाया। विडम्बना

ये है कि इन नेताओं के नाम भी हमारे लिए अजनबी ही बने रहे हैं। उनके लिए यल्लैया, पुल्लैया, बच्छैया, बच्छम्मा, लच्छम्मा जैसे नाम दूसरों के नाम हैं। दूसरों की जरूरत कभी उनके लेखन का विषय नहीं बनी है। उनकी कथाओं का केन्द्र बिन्दु यह नहीं है।

पुरोहितों ने पुराणों की प्रशंसा लिखी है। कम्युनिस्टों और विवेकवादी लेखकों ने इन पुराणों की टीकाएं लिखी हैं। लेकिन किसी ने यह नहीं सोचा कि हमारी भी कोई आत्मा है जिसके बारे में बात करने की भी जरूरत है। किसी ने यह नहीं सोचा कि यहां पोचम्मा, माईसम्मा, और पोटाराजु भी हैं, जिनके बारे में बात की जानी चाहिए। कम्युनिस्टों और विवेकवादियों ने भी उसी भाषा में लिखा है जिस भाषा में पुरोहित लिखते रहे हैं। दरअसल मूल रूप से उनकी संस्कृति अभिजात्यवादी है और हमारा उस संस्कृति में कोई स्थान ही नहीं है। अच्छे या बुरे किसी भी रूप में किसी ने भी हमारे बारे में बात नहीं की है। किसी ने भी यह महसूस नहीं किया कि हमारी भी एक भाषा है जिसे हमारे समुदाय में सभी लोग समझते हैं। अक्सर इस तथ्य को भुला दिया जाता है कि हमारा समुदाय तादाद में कोई छोटा-मोटा समुदाय नहीं है। उसकी तादाद लाखों और करोड़ों में है जबकि ऊंची जातियों के लोग तादाद में बहुत ही थोड़े हैं। अगर हमारे माता-पिता में इस गंभीर हिंसा के षडयंत्र के बारे में कोई चेतना होती तो वे बड़ी सहजता से नाशम की तरह (जैसे वे सामान्यतः तम्बाकू पाउडर का कश लगाते हैं) इनका कश लगा चुके होते। लेकिन इस चेतना को ही दबा दिया गया, कुचल दिया गया। 'हमारी चेतना' और 'हमारी संस्कृति' को हमारे दिमागों में कभी भी पनपने नहीं दिया गया।

किसी भी पुरुष या स्त्री के पूरा मनुष्य होने में उनके बचपन की बुनावट बहुत अहमियत रखती है। लेकिन हमारे बचपन को अनवरत अपमान और खामोशी के साथ विकृत किया गया और इस विकृति पर भी आश्चर्य में डाल देने वाली खामोशी बनी रही। हमारी चेतना की संरचना को दबाने के लिए यह एक षडयंत्र ही तो था। सैकड़ों पीढ़ियों तक हमारे घरों में लिखित शब्द के प्रवेश को हिंसात्मक रूप से रोके रखा गया। हमारा जीवन भी हमारी चेतना को इसी दायरे में कैद करता रहा। आज तक मैं 'स्वतंत्रता' या 'स्वराज्य' जैसे शब्द को समझने में नाकाम रहा हूं। लेकिन आजादी मिलने के बाद जब विद्यालय हमारे लिए खोल दिए गए तब वहां विद्यालय के अध्यापक हमारे खिलाफ थे। पाठ्यपुस्तकों की भाषा हमारे खिलाफ थी। हमारे घरों में जो संस्कृति थी, वही संस्कृति हमारे विद्यालयों में नहीं थी। अगर हमारी संस्कृति दलितबहुजन संस्कृति थी तो विद्यालयों की संस्कृति हिन्दू संस्कृति थी। इन दोनों

में बहुत ज्यादा फर्क था। इन दोनों संस्कृतियों के मेल-मिलाप का कोई रास्ता नहीं था। सच्चाई यह है कि ये दोनों संस्कृतियां दो अलग-अलग ध्रुव थीं।

एक तरफ अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकें थीं जो मिल्टन के 'पैराडाइज लॉस्ट' की बात करती थीं, शेक्सपीयर के 'ओथेलो' और 'मैकबेथ' की बात करती थीं या इंग्लैण्ड की प्रकृति के बारे में विलियम वड्सवर्थ की कविता की बात करती थीं। दूसरी तरफ तेलुगु पाठ्य-पुस्तकें थीं जो कालिदास के 'मेघसंदेशम्' की बात करती थीं। बोमैश की 'भागवतगीता' या नान्या और टिक्काना के 'महाभारत' की बात करती थीं। एक पाठ्यपुस्तक छब्बीस अक्षरों में लिखी जाती है और दूसरी छप्पन अक्षरों में। इस तथ्य के अलावा इनमें हमारे लिए कोई अन्तर नहीं था। हम इनकी विषय वस्तु में न तो कोई हिस्सेदारी करते हैं और न ही इन कथाओं में हमारा जीवन ही झलकता है। हम इनमें अपने परिवारों का पता नहीं लगा सकते हैं। इन किताबों में हमें वे शब्द भी देखने को नहीं मिलते हैं जिनसे हम वाकिफ हों। एक शब्दकोश की मदद के बिना हम इनका कोई अर्थ नहीं जान सकते हैं। चाहे ये किताबें रोमन अक्षरों में लिखी जाने वाली ग्रीक या लातिनी भाषा में लिखी गई हों या फिर तेलुगु में लिखी जाने वाली संस्कृत में लिखी गई हों। हमारे लिए इन किताबों में कोई फर्क नहीं है।

विद्यालय के दिनों से ही उनके पुरुष बच्चे उपनयन के जरिए हिन्दू धर्म में अपने प्रवेश के बारे में बातचीत करते थे। जिस दिन वे उपनयन के जरिए अपने शरीरों पर सफेद धागा धारण करते उसी दिन से उनका पुनर्जन्म माना जाता जो पहले से कहीं ज्यादा पवित्र और ऊंचा होता। हम हमेशा एक बार ही जन्मे रह जाते। जब हमने पहली बार उपनयन के बारे में सुना तो

ऐसे धागे को धारण करने की इच्छा हमारे मन में भी हुई। यह एक अलग बात है कि बाद में हम में से कईयों ने उस धागे को गंदे पानी में फेंक दिया ठीक उसी तरह से जिस तरह से बारह वर्ष की उम्र में वासव* ने किया था। लेकिन सच्चाई यही है कि सात-आठ साल

की उम्र में किसी अवसर पर अगर हम घरों के केन्द्र बिन्दु बने होते और कोई पुजारी हमें धर्म में शामिल करने आता तो हमारा भी आत्मविश्वास बढ़ जाता। केवल इतना ही नहीं बाद में जब हमें यह पता चला कि ब्राह्मण, बनिया और दूसरी ऊंची जाति के परिवारों में चार साल की उम्र में ही लिखित अक्षरज्ञान का शुभारंभ हो जाता है और यह भी एक खास अवसर होता है तो ऐसे में हम अपने आपको ऐसी बातों से कितना रोक पाते।

पुराने दिनों में इस प्रकार शुभारंभ के बाद तथाकथित ऊंची जाति के लड़कों को गुरुकुलों (ब्राह्मणवादी विद्यालय) में भेजा जाता था। अब वे उन्हें अंग्रेजी माध्यम वाले कॉन्वेंट विद्यालयों में भेजते हैं। ये वही विद्यालय हैं जिनसे ये हिन्दू स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में घृणा करते थे। नब्बे के दशक में भी हिन्दुत्ववादी इन विद्यालयों की 'हिन्दू विरोधी' विद्यालयों के रूप में भर्त्सना करते हैं। और आजकल ये काम वे अपने बच्चों के उपनयन के बाद उनको इन विद्यालयों में भेजने के फौरन बाद करते हैं। हिन्दू अंग्रेजी की भर्त्सना करते हैं हालांकि वे अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम वाले विद्यालयों में भेजते हैं। अब तक हमारे भीतर वह चेतना जाग्रत नहीं हो पाई है कि हम हिन्दू धर्म ग्रन्थों के जरिए तेलुगु माध्यम के विद्यालयों के प्रभुत्व का पूरी तरह से विरोध कर सकें। चूंकि हमारे पास कोई अन्य विकल्प मौजूद नहीं है इसलिए हम अपने बच्चों को अभी

शैक्षणिक संस्थानों में संघर्ष करते हुए मैंने जाना कि राज्य, देश और सारी दुनिया के ढांचे हमारे गांवों के ढांचों से कहीं ज्यादा बड़े हैं। मैं शिक्षा के उच्च संस्थानों में विभिन्न स्तरों पर अपना स्थान बनाता गया। इस पूरे दौर में मुझे लगा कि शिक्षा मुझ से काफी कटी हुई है। साथ ही यह शिक्षा काफी ब्राह्मणवादी और आंग्लीकृत है। एक समय तक मेरी शिक्षा का माध्यम तेलुगु भाषा थी। तेलुगु और इतिहास की इन पाठ्यपुस्तकों में ब्राह्मणवादी आख्यान ही भरे पड़े थे। गणित जैसा विषय भी ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य में ही पढ़ाया जाता था। इन पुस्तकों में आने वाले देवी-देवता ब्राह्मणवादी ही थे। इन पाठ्यपुस्तकों के नायक या तो ब्राह्मणवादी परंपरा के थे या फिर क्षत्रिय परंपरा के। इतिहास की पुस्तकें क्षत्रिय राजाओं की कहानियों से भरी पड़ी थीं। हम उनके प्रेम और युद्ध की गाथाएं पढ़ते थे। हम उनकी समस्याओं, उनकी क्षमताओं और उनके सपनों के बारे में पढ़ते थे। इस पाठ्यक्रम में दलितबहुजन जीवन का कहीं कोई नामोनिशान भी नहीं था। हम इतिहास से बहिष्कृत थे। दरअसल, ऐसा लगता था मानो हमारा इतिहास कोई इतिहास ही नहीं था।

* वासव - दक्षिण भारत में वीर शिव आंदोलन को शुरू करने वाले नेता।

भी उन्हीं विद्यालयों में भेजते हैं जो प्रत्येक पाठ्यपुस्तक में केवल पुराणों या प्राचीन महाकाव्यों के बारे में ही पढ़ाते हैं। यह एक विरोधाभास है और हम ऐसे कई विरोधाभासों में जीते हैं।

जब हमें यह बताया गया कि हिन्दू लड़के और लड़कियों की शादी उनके बचपन में ही हो जाती है तो हमें लगा कि हम इन चीजों से परिचित हैं, क्योंकि बाल-विवाह हमारे जीवन का भी हिस्सा है। हमने पढ़ा कि हिन्दुओं में अगर किसी लड़की का पति मर जाता है तो ताउम्र उसे विधवा ही रहना पड़ता है। उसे अपने केश कटवाने पड़ते हैं और उन्हें सफेद कपड़े पहनने होते हैं। यह सब जानकर हमें बड़ा अजीब लगा। हमारे परिवारों में अगर किसी लड़की के सास-ससुर उसे ठीक से नहीं रख पाते हैं तो उसे आसानी से तलाक मिल जाता है। कुछ ही दिनों में उसके लिए दूसरा पति मिल जाता है। शादियां घरों में होती हैं। खास भोजन और मदिरा के साथ शादी का उत्सव मनाया जाता है। तलाक भी खास भोजन और मदिरा के साथ ही पूर्ण होता है। गैर जिम्मेदार पति से छुटकारा पाने की अनुमति ठीक उसी प्रकार से एक सामाजिक काम होता है जैसे शादी। बचपन में मैंने सावित्री की कहानी पढ़ी थी। सावित्री अपने पति की मौत से संघर्ष करती है ताकि उसे विधवा न होना पड़े। मुझे यह जानकर बहुत खुशी हुई कि हमारे यहां लड़कियों को ऐसे संघर्ष नहीं करने पड़ते हैं।

इसी तरह से जब मैंने पढ़ा कि पति के मर जाने के बाद एक हिन्दू औरत को उसी की लाश के साथ मरना पड़ता है तो मैं बहुत खुश हुआ क्योंकि हमारी औरतों को इस तरह से मरना नहीं पड़ता है। मैं बहुत प्रसन्न हुआ कि इस तरह के धर्म से हमारा कोई वास्ता नहीं है क्योंकि अगर कभी अकस्मात् मेरे पिता की मृत्यु हो जाए तो मेरी मां को मरना नहीं पड़ेगा। अगर मेरी मां चाहे तो मेरे लिए दूसरा पिता ला सकती है। मगर मैं इन इतिहास की पाठ्यपुस्तकों और तेलुगु पाठ्यपुस्तकों का क्या करूं ? इनमें उन औरतों की कहानियां भरी पड़ी हैं जो अपने पतियों की मृत्यु के बाद सती हो गईं। मगर इनमें ऐसा कोई अध्याय ही नहीं है जिनमें हमारी उन औरतों का जिक्र हो जो अपने पतियों की मृत्यु के बाद भी जीवित रहती हैं, काम करती हैं, अपने बच्चों का पालन-पोषण करती हैं और उनकी शादी-विवाह करती हैं। इन पाठ्यपुस्तकों का कोई अध्याय ऐसा नहीं है जिसमें उस औरत का जिक्र हो जिसके लिए तलाक पाना कठिन काम रहा हो और जिसने तलाक पाने के लिए कड़ा संघर्ष किया हो। उन माता-पिताओं के बारे में भी इनमें कोई अध्याय नहीं है जिन्हें अपनी इन बेटियों के तीन-चार विवाह करवाने पड़े हों जिनके सारे पति खराब आदमी निकले हों। उनके रास्ते में

आने वाली दिक्कतों का इन किताबों में कोई जिक्र नहीं है। किसी भी पाठ्यपुस्तक में कोई ऐसा नीतिपूर्ण अध्याय नहीं है जिनमें उन साहसी माता-पिताओं का जिक्र हो जिन्होंने कभी अपनी बेटियों को मौत के मुंह में नहीं जाने दिया। पाठ्यपुस्तकों की नैतिकता हमारी जीवन्त नैतिकता से एकदम भिन्न थी।

इन सब कहानियों और पाठों में हमने उन आदर्श आदमियों और औरतों के बारे में और उस संस्कृति के बारे में पढ़ा जो हमसे काफी भिन्न थी। हिन्दू पाठ्यपुस्तकों में वही व्यक्ति ज्ञानी था जो वेदों के बारे में जानता था। साहसी आदमी वही था जो अपने दुश्मनों का सफाया कर सकता था, भले ही ये दुश्मन उसके अपने मित्र या संबंधी ही क्यों न हों। 'रामायण' और 'महाभारत' में ज्ञान और बहादुरी को इन्हीं मूल्यों में व्याख्यायित किया गया है। लेकिन हमारी असली जिन्दगी में वही आदमी ज्ञानी माना जाता है जो सामाजिक क्रियाकलापों की समझ रखता है - यानी जो भेड़ पालन जानता हो, खेती बाड़ी और रस्सी बनाना जानता हो, जो पशुओं और आदमियों की बीमारियों को जानता हो और उनका इलाज कर सकता हो। बहादुर आदमी वो है जो बाघ, शेर, सांप और जंगली भैंसे से लड़ाई कर सकता हो, जो घने जंगलों में यात्रा कर सकता हो, तैर सकता हो और खोई हुई बकरियों और भेड़ों को खोज सकता हो।

क्या आजाद भारत के घटनाक्रमों में हमारे और हिन्दुओं के बीच के संबंधों में कोई तब्दीली आई है ? अर्ध-सामंती और अर्ध-पूंजीवादी ढांचे धीरे-धीरे स्थापित हुए हैं। इन ढांचों के सीमित दायरों में भी सामाजिक समानता की अवधारणा मौजूद रही है। क्या इस अवधारणा से हमारे और हिन्दुओं के बीच सामाजिक रिश्तों में कोई बदलाव आया है ?

जाति और कॉलेज की शिक्षा

शैक्षणिक संस्थानों में संघर्ष करते हुए मैंने जाना कि राज्य, देश और सारी दुनिया के ढांचे हमारे गांवों के ढांचों से कहीं ज्यादा बड़े हैं। मैं शिक्षा के उच्च संस्थानों में विभिन्न स्तरों पर अपना स्थान बनाता गया। इस पूरे दौर में मुझे लगा कि शिक्षा मुझ से काफी कटी हुई है। साथ ही यह शिक्षा काफी ब्राह्मणवादी और आंग्लिकृत है। एक समय तक मेरी शिक्षा का माध्यम तेलुगु भाषा थी। तेलुगु और इतिहास की इन पाठ्यपुस्तकों में ब्राह्मणवादी आख्यान ही भरे पड़े थे। गणित जैसा विषय भी ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य में ही पढ़ाया जाता था। इन पुस्तकों में आने वाले देवी-देवता ब्राह्मणवादी ही थे। इन पाठ्यपुस्तकों के नायक या तो ब्राह्मणवादी परंपरा के थे या फिर क्षत्रिय परंपरा के। इतिहास की पुस्तकें क्षत्रिय राजाओं की कहानियों

से भरी पड़ी थीं। हम उनके प्रेम और युद्ध की गाथाएं पढ़ते थे। हम उनकी समस्याओं, उनकी क्षमताओं और उनके सपनों के बारे में पढ़ते थे। इस पाठ्यक्रम में दलितबहुजन जीवन का कहीं कोई नामोनिशान भी नहीं था। हम इतिहास से बहिष्कृत थे। दरअसल, ऐसा लगता था मानो हमारा इतिहास कोई इतिहास ही नहीं था।

बी. ए. में प्रवेश लेने पर मेरी पढ़ाई का माध्यम तेलुगु से अंग्रेजी हो गया। इसके अलावा कुछ और भी बदलाव हुए। बी. ए. की पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु भी बदल गई। पहले इसकी रूपरेखा ब्राह्मणवादी थी। अब यह रूपरेखा यूरोपियन बन गई। धर्म, समाज, राजनीति आदि सभी के मामले में यूरोपियन व्यवस्था ने एक विश्व पेश किया। यह विश्व ब्राह्मणवादी विश्व से एकदम भिन्न था। ब्राह्मणवादी पाठ हमारी जाति और हमारी संस्कृति के बारे में एक षड्यंत्रकारी ढंग से चुप थे। अंग्रेजी पाठों ने एकदम उलट काम किया। ये पाठ यूरोप के वर्गों के बारे में बताते थे। अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकों में अमीर और गरीब दोनों वर्गों की संस्कृति को व्याख्यायित किया गया था। इन अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकों ने डिकेन्स जैसे लेखकों से हमारा परिचय करवाया। राजनीति शास्त्र में हमें 'समानता' और 'असमानता' जैसे उदार जनतंत्रवादी विचारों का अध्ययन करना था। विभिन्न वर्गों की संस्कृति की प्रस्तुति इस अध्ययन का हिस्सा थी।

अब पीछे मुड़कर देखता हूं तो मुझे यह बात एकदम साफ हो जाती है कि अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकों के वर्ग-समाजों में भी परस्पर विरोधी संस्कृतियां मौजूद थीं। लेकिन जाति आधारित समाजों की तुलना में इन समाजों में चुप्पी का षड्यंत्र बहुत कम था। तेलुगु पाठ्यपुस्तकों में तो चुप्पी का यह षड्यंत्र 'बिजली की कड़क' के समान तेज था। अपने सिद्धांत और व्यवहार में निर्लज्जता की हद तक जातिवादी होने वाली जाति अपने साहित्यिक पाठों में भी अपनी अमानवीयता के बारे में निर्लज्ज रूप से चुप थीं। सबसे ज्यादा ताजुब की बात यह है कि इन तमाम साहित्यिक पाठों में इस जातिवादी संस्कृति का गुणगान किया जाता है। साथ ही इन पाठों में हमारी भारतीय संस्कृति की भर्त्सना भी की जाती है। मेरी पीढ़ी ही शायद ऐसी दूसरी पीढ़ी थी जिसने दक्षिण भारत में उच्चतर शैक्षणिक संस्थानों में प्रवेश किया था। उसका सामना केवल ऊंची जाति के अध्यापकों से हुआ था। इन अध्यापकों में उदार जनतंत्रवादी, वामपंथी, जनतंत्रवादी और कभी-कभी आमूल परिवर्तनवादी वामपंथी भी होते थे। ये अध्यापक भले ही आमूल परिवर्तनवादी रहे हों मगर जातिगत भेदभाव के मसले पर तकरीबन सभी एकदम खामोश थे। और सच्चाई यही थी कि उनका रोजमर्रा का व्यवहार जातिगत

भेदभाव पर आधारित था। ब्राह्मणवादी संस्कृति उनके अस्तित्व को ढाल रही थी। लेकिन वे इसे मानने को तैयार नहीं थे। वे हिन्दू संस्कृति को अखंडित संस्कृति के रूप में मानते आ रहे थे। वे इस संस्कृति की आलोचना भी करते थे। मगर यह आलोचना इस संस्कृति को एक वर्ग संस्कृति मानकर ही की जाती थी। उन्होंने इस बात को कभी समझा ही नहीं कि इस संस्कृति का विलोम वास्तव में दलितबहुजन संस्कृति ही है।

उच्चतर शैक्षणिक संस्थानों में प्रवेश करने वाले बहुत से लोग ऐसे थे जिनके इलैया, येलैया, मल्लीया या फैरैया जैसे नाम थे। अपनी समतावादी विचारधाराओं के बावजूद अध्यापक इन लोगों के साथ सहज नहीं हो पाते थे। उनमें से बहुत सारे लोग हम में से अधिकांश को अयोग्य मानते थे। वे मानते थे कि हमारे आने से उच्चतर शैक्षणिक संस्थानों के मानदंडों में गिरावट आ जाएगी। कुछ हिन्दू अध्यापकों की राय में तो हमें विश्वविद्यालयों में स्थान मिलना ही नहीं चाहिए। कुछ दूसरों का तर्क था कि हम बेहतर पारिश्रमिक मिलना चाहिए और हमारी जीवन परिस्थितियों में सुधार होना चाहिए। लेकिन वे मानते थे कि यह सब ग्रामीण संरचना और खेतीहर अर्थतंत्र के भीतर ही होना चाहिए। वे मानते थे कि शैक्षणिक संस्थानों के भीतर हमें घुसाकर उच्चतर शैक्षणिक मानदंडों को नीचे गिराने से बेहतर है कि हमारे अपने दायरों के भीतर ही हमारी जीवन परिस्थितियों में सुधार कर दिया जाए। उनकी सोच यह थी कि हम तेलुगु या अंग्रेजी में पारंगत हो ही नहीं सकते हैं।

हां ! हम शायद इन भाषाओं में पारंगत हो ही नहीं सकते थे। इसका कारण यह था कि इनमें से कोई भी भाषा इस तरह से नहीं बनी थी कि वह हमारे जीवन के केन्द्रीय मसलों पर बात कर सके। दोनों भाषाएं हम से अलग हैं। इन दोनों में ही यह अलगाव काफी ज्यादा है। इसके अलावा शिक्षा का पूरा का पूरा कार्यक्षेत्र ही असंगत दिखाई पड़ता है। इस व्यवस्था में हमारी दक्षताओं और हमारे ज्ञान की कोई जगह ही नहीं है। और इससे भी खराब बात ये है कि हमारे ज्ञान का कोई वजूद ही नहीं माना जाता है। हमारी भाषाई दक्षताएं (भाषा विज्ञान संबंधी दक्षताएं) और हमारा शब्द भंडार अदृश्य हो जाते हैं। हम ऐसी वैरपूर्ण आंग्लिकृत और ब्राह्मणवादी कक्षाओं में बैठते चले आ रहे हैं जो हमारे अपने अभिभावकों द्वारा उत्पन्न किए गए अतिरिक्त मुनाफे को छीनकर बनाए गए हैं। ♦

‘मैं हिन्दू क्यों नहीं हूं’ से साभार